कमानी सभागार में उस समारोह का आयोजन किया गया था, बच्चन ग्रंथावली विमोचन के उपलक्ष्य में। मंच दमक रहा था, प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी से। उनके चेहरे पर एक लंबी पारिवारिक मैत्री की सहज मुसकान थी। पास बैठे थे कविवर बच्चन, शीला संधू, नामवर सिंह और मंच का संयोजन करने वाले अजित कुमार। सत्ता के उच्चतम गुंबद की सजावाट वाले मंच पर विराजमान विशिष्ट जनगुच्छा देवी-देवताओं के कुटुंब-परिवार की झलक मार रहा था। नीचे सभागार की पहली पंक्ति में बैठे थे- राजीव गाँधी और सोनिया गाँधी, तेजी बच्चन, जया और अमिताभ बच्चन। अमिताभ अपने रखरखाव और सिंगार में संपूर्ण अभिनेता, कंट्रास्ट में राजीव अपनी उजली पोशाक और चाल-ढाल में नेहरू परिवार की ऐतिहासिक तराश को अपने में जज्ब किए हुए। सहजा, न कुछ ज्यादा, न कम। तेजी बच्चन आधुनिक बनी-ठनी के सिंगार से आमूल सजी-सँवरी। आज की शाम के नायक कवि बच्चन अपने में मग्न देर तक कविता पाठक करते रहे।

दोस्तो, नामवर बोलने को उठे तो क्षणांश में मंच पर चौंध की तरह कुछ घट गया। जाने गणित के किस हिसाब से नामवर ने सहसा राजधानी के लेखकों की अतिविशिष्ट तर्ज को बदलकर साधारण कर दिया। सभागार में बैठा श्रोता अब वह था जो कोई भी लेखक था और नामवर थे। मंच पर जो विशिष्ट उभरा था वह सादगी से चमकता इंदिरा गाँधी का चेहरा था। नामवर बोले संक्षिप्त और सादा। मगर मूर्त और अमूर्त को परखने की सामर्थ्य के साथ। दोस्तो, हमने अपनी आँख से यह मंज़र देखा कि शब्दों के संप्रेषण से नामवर सभागार में बैठे हर उस व्यक्ति के साथ जुड़ गए जो सरकारी बिरादरी से हटकर लेखकीय अस्मिता को गंभीरता से बचाए रखता है, रखना चाहता है। इंदिरा गाँधी की अचूक निगाह से न चूकी थी बौद्धिक वर्ग की वह ढीठ क्षमता भी जो हमेशा व्यवस्था को फर्शी सलाम नहीं करती।

कृष्णा सोबती, हम हशमत-2, पृ.18-19

ISSN : 2278-2338 सैंतालीस-अड़तालीस : जनवरी-जून, 2019

यूजीसी द्वारा स्वीकृत नम्बर-41061

अक्सर

मानव-संघर्ष की रचनात्मक अभिव्यक्ति

प्रधान सम्पादक

हेतु भारद्वाज

सम्पादक

गोविन्द माथुर

सुभाष चन्द्र

मूल्य

इस अंक का मूल्य : 100 रुपये

वार्षिक : 150 रुपये मात्र (व्यक्तिगत)

500 रुपये मात्र संस्थाओं के लिए

आजीवन सदस्य

1500 रुपये मात्र

संपादकीय कार्यालय

ए-243, त्रिवेणी नगर, गोपालपुरा बाईपास,

जयपुर-302 018 (राजस्थान)

दूरभाष : 0141-2760160, 094147-52039

09828885028 (गोविन्द माथुर), 09928846874 (सुभाष चन्द्र)

ई-मेल : aksar.tramasik@gmail.com

मुद्रण

श्री पदम कम्प्यूटर सेन्टर

2212, हरसुख कासलीवाल की गली, किशनपोल बाजार, जयपुर

'अक्सर' में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचारों से सम्पादक तथा प्रकाशक की वैचारिक सहमति आवश्यक नहीं है।

इस अंक में...

सम्पादकीय
वॉलमार्ट तथा पतंजलि का खेला 3

स्मरण :
कृष्णा सोबती : आशुतोष भारद्वाज-9 / हरियश राय-16 / डॉ. सुनीता रानी घोष-23 / डॉ. शोभा पालीवाल-34
नामवर सिंह : माधव हाड़ा-40 / मधुरेश-44 / नन्द भारद्वाज-51
अर्चना वर्मा : विजय शर्मा-58 *रमणिका गुप्ता :* हरिराम मीणा-61
हरिराम आचार्य : चिरमी आचार्य-65

विशेष :
ख्वाहिश एक सपने की — शेखर जोशी 69

संवाद :
विष्णु खरे से पहली मुलाकात और बातचीत — कुमार मुकुल 73

व्याख्यान :
मार्क्सवाद के परिप्रेक्ष्य में भविष्य की चुनौतियाँ, रेस्पोंस और ... — रामशरण जोशी 78

घुमक्कड़ी :
बूंदी का दरवाजा पे मंड रही मोरड़ी — अम्बिकादत्त 94

सम्प्रति :
साहित्य उत्सव : अनुकरण बनाम प्रतिरोध — राजाराम भादू 101

कहानी :
सोनचिरैया — नीरजा हेमेन्द्र 107

कविताएँ :
युद्ध की कविता (मराठी) : विजय चोरमारे-116 / कविताएँ : हीरालाल नागर -118 / तीन कविताएँ : निशान्त-120 / पाँच कविताएँ : कुमार मुकुल-122 / तीन कविताएँ : कविता विकास-125 / तीन कविताएँ : संजय छीपा-126 / चार ग़ज़लें : विज्ञान व्रत-128 / ग़ज़ल : लोकेश कुमार 'साहिल'-129

चिन्तन :
सगुण-निर्गुण का द्वन्द्व — मनीष पटेल 130
बेरोजगारी की समस्या : निर्मल वर्मा की दृष्टि — गीता कुमारी खटीक 137
डायरी की कसौटी पर शमशेर — डॉ. मनोज छाबड़ा 142

समीक्षा आलेख :
आदिवासी उत्पीड़न का दस्तावेज — डॉ. सुरेश ए. 147
संवेदना की सघन अनुभूति की कहानियाँ — डॉ. नवीन नन्दवाना 152

शोध :
भारतेंदु युग में साहित्यिक पत्रिकाओं का परिदृश्य — श्रीमती मनोज 165
अमरकान्त की कहानियों में आम आदमी की पीड़ा — ज्योति शर्मा 171
जनसंचार माध्यम और हिन्दी साहित्य — डॉ. भवानी सिंह 178
21वीं सदी की प्रमुख महिला आत्मकथाओं में चित्रित नारी जीवन — सकीना अख्तर 196

व्यंग्य तरंग :
शोकेस में मृत पुस्तक और बौद्धिक ढिंढोरा — अजय अनुरागी 206

कथोपकथन :
कविता निरन्तर..... — गोविन्द माथुर 209

पुस्तक समीक्षा :
मुड़कर देखता है जीवन — डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ 212

गोष्ठी प्रसंग :
संकट से संभावनाओं की ओर — पीयूषकांत 214

पत्र संवाद 229

सम्पादकीय

वॉलमार्ट तथा पतंजलि का खेला

गत दशक में जयपुर की प्रसिद्धि में जिन उपक्रमों ने इजाफा किया उनमें जयपुर लिटरेरी फैस्टीवल का आयोजन भी है, जो अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बना चुका है। अब यह 'जी लिट फैस्टीवल' हो गया है क्योंकि इसे जी समूह ने खरीद लिया है। जाहिर है यह आयोजन सामंती मानसिकता की देन है और इसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ व्यापारिक लाभ कमाना भी है। इस मेले के आयोजन को कारपोरेट जगत, फिल्म जगत, सैलीब्रिटी माने जाने वाले बुद्धिजीवी वर्ग तथा सत्ता का वरदहस्त प्राप्त हैं। अपने आरम्भिक दौर से ही यह सभी के आकर्षण का केन्द्र रहा है। इसमें अपनी भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए कम से कम राजस्थान प्रदेश के अनेक लेखक तो जुगाड़ बिठाते देखे गये। जो लेखक इस मेले में आमंत्रित हो गया उसका जीवन धन्य हो गया तथा उसका जन्म सार्थक हो गया। मेरे एक मित्र को एक बार इस मेले का आमंत्रण मिला तो जैसे उनका ख्यातिरथ धरती से पाँच अंगुल ऊपर चला गया। मैंने उनसे कहा, 'मित्र आप महान हैं क्योंकि आपके पास इतना खाली समय है कि आप लगभग 10 मिनिट की अपनी भागीदारी (जो भी किसी ने देखी, किसी ने नहीं) के लिए पाँच दिन का सहर्ष बलिदान कर सकते हैं।'

इस उत्सव के आरम्भिक काल में मैं भी एक बार मेले में आमंत्रित हुआ था। वहाँ अपनी उपस्थिति के प्रति मेरे मन में क्षोभ अधिक हुआ, हर्ष तो कतई नहीं हुआ। घूमघामकर और उसमें आयोजित कुछ बहसों को सुनकर मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह उत्सव सामंती तथा पूँजीवादी मानसिकता की उपज है, जिसमें गम्भीर से गम्भीर

संवेदना की सघन अनुभूति की कहानियाँ

डॉ. नवीन नन्दवाना

हिंदी कहानी लेखन की उम्र आज सौ से अधिक वर्ष की हो चुकी है। इन वर्षों में हिंदी कहानी की यात्रा ने कई पड़ाव देखें हैं। इस दौर की कहानी कुछ नए रूप में पाठकों से जुड़ रही है। आज युवा हिंदी कहानी व कहानीकार को लेकर चहुँओर चर्चा है। हिंदी की युवा महिला कहानीकारों की बात करें तो उनमें वंदना राग, मनीषा कुलश्रेष्ठ, गीता श्री, योजना रावत, जयश्री राय, नीलाक्षी सिंह और अल्पना मिश्र आदि के नाम प्रमुखता से लिए जा सकते हैं। इन रचनाकारों ने अपनी कहानियों में कथ्य व शिल्प के नये प्रयोग किए हैं। वहीं कहानी की सदाबहार परम्परा व विषयों को भी इन रचनाकारों ने अपनाया है।

अल्पना मिश्र समकालीन युवा महिला कहानीकारों में एक चर्चित नाम है। उनके अब तक प्रकाशित कहानी संग्रहों में 'भीतर का वक्त' (2006), 'छावनी में बेघर' (2008), 'कब्र भी कैद औ जंजीरें भी' (2012), स्याही में सुर्खाब के पंख (2017) प्रमुख हैं। 'छावनी में बेघर' उनका एक चर्चित कहानी संग्रह है जिसमें कुल आठ कहानियाँ 'मुक्ति प्रसंग', 'मिड-डे मील', 'तमाशा', 'बेदखल', 'जिम्मी के सपने', 'लिस्ट से गायब', 'इस जहाँ में हम' और 'छावनी में बेघर' हैं। अल्पना मिश्र को हिंदी साहित्य में विशेष योगदान के लिए कई पुरस्कारों से नवाजा जा चुका है। उनमें से शैलेष मटियानी स्मृति सम्मान (2006), परिवेश सम्मान (2006), रचनाकार सम्मान (भारतीय भाषा परिषद कोलकाता 2008), शक्ति सम्मान (2008) प्रेमचंद स्मृति कथा सम्मान (2014) वनमाली कथा सम्मान (2017) प्रमुख हैं।

''अल्पना मिश्र हिंदी कथा साहित्य की प्रमुख हस्ताक्षर हैं। उनकी पहली कहानी 'ऐ अहिल्या', 'हंस' पत्रिका के अक्टूबर 1996 अंक में प्रकाशित हुई थी। उनकी भाषा की ताजगी, विलक्षणता और साथ ही लोक रंग की उपस्थिति उनकी भाषा को सबसे अलग पहचान देती है। विशिष्ट शिल्प प्रयोगों तथा गहरे सामाजिक सरोकारों के कारण अल्पना मिश्र ने हिंदी कथा जगत को नई ऊँचाई दी है। उन्हें हिंदी का 'अनकन्वेंशनल राईटर' माना जाता है। उनकी प्रसिद्ध कहानियों में 'उपस्थिति',' 'मुक्ति प्रसंग', 'मिड डे मील', 'कथा के गैर जरूरी प्रदेश में', 'बेदखल',' इस जहाँ में हम', 'स्याही में सुर्खाब

के पंख', 'ग़ ,ज़िरी में हाजिर' आदि हैं। उनकी लिखी 'छावनी में बेघर' कहानी हिंदी कथा जगत में सैन्य जीवन पर लिखी लगभग अकेली कहानी है जो बेहतरीन तरीके से सैनिक जीवन का परिचय कराती है।''[1]

अल्पना मिश्र के कहानी संग्रह 'छावनी में बेघर' की प्रथम कहानी 'मुक्ति प्रसंग' प्रेम व वैवाहिक जीवन की उलझनों की चर्चा करते हुए एक नौकरी पेशा और जो अपने कार्यस्थल पर जाने व लौटने के लिए प्रतिदिन अपने घर से 'अप-डाउन' करती है, के साथ प्रतिदिन की गाड़ियों की आवाजाही में पुरुष समाज द्वारा उसके साथ किए जा रहे दुर्व्यवहार की कथा है। इस कथा के माध्यम से लेखिका समाज की उन सभी नौकरी पेशा महिलाओं की गाथा उजागर करती है जो कि नौकरी के चक्कर में बस या रेल से यात्रा करती हैं। यह कहानी इस बात को उजागर करती है कि किस तरह हमारा आज का समाज भी एक स्त्री को मात्र वस्तु की नजर से देखता है।

नौकरीपेशा स्त्री इस बात को भली प्रकार जान जाती है कि जब घर से बाहर निकले हैं तो उसे इस यात्रा में बहुत कुछ सहना ही पड़ेगा। ''मसलन अपनी लाबेला की चप्पल किसी के भी पैर पर रखते हुए, किसी के भी हाथ, कोहनी, कंधे, पुट्ठे से टकराते हुए, यहाँ तक कि कई बार तो कोई भद्दा आदमी जानबूझकर उनके उरोजों से टकरा जाता, पर वे लक्ष्य नहीं छोड़ती, परवाह नहीं करतीं। अब बस में जाना है तो यह सब तो लगा ही रहेगा।''[2] यहाँ हम महिला यात्रियों द्वारा बस में सीट पाने का संघर्ष देख सकते हैं। उसे लगता है कि उस महिला यात्री को मुक्ति की साँस तभी मिलेगी जब उसके पास सीट पर कोई महिला यात्री ही आकर बैठेगी। किसी पुरुष के पास बैठने पर उसके हृदय में सदैव एक उथल-पुथल चलती रहती है।

बस में यात्रा कर रहे पुरुषों की एक महिला के प्रति कैसी दृष्टि होती है, इस बात पर भी यह कहानी चिंता व्यक्त करती है। महिला की छोटी-मोटी मदद कर साथी पुरुष यात्री उसके शरीर से चिपटकर बैठता है, तो कोई उसे रिसेप्सनिष्ट समझकर उसके साथ परिचय बढ़ाने का प्रयास करता है। बस की सीट पर बैठे-बैठे जब वह अपने डॉक्टर पति की बातों को याद करती है तो उसे बड़ा अजीब-सा लगता है। वह डॉक्टर पति अपनी पत्नी के साथ जिस प्रकार के सेक्स की इच्छा जताता है, वह उसे बड़ा अजीब लगता है। वह इस विषय पर सोचते-सोचते शादी, प्यार और औरत के अस्तित्व आदि विषयों को अपने ध्यान में लाती है। वह सोचती है- ''क्या प्यार और पालतूपन एक ही चीज है या दो बिल्कुल अलग-अलग चीजें? पालने वाले के लगाव और स्वतः स्फूर्त प्यार जैसी ऊर्जा में वैसे ही अंतर है, जैसे शादी और प्यार में। जैसे शादी में छिपा है पालतूपन और मोह। तो क्या स्त्री एक पालतू जानवर है? और पालतूपन के मोह से उपजी है ईमानदारी?''[3]

यह कहानी स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता के विषय म भी सवाल खड़े करती है। नौकरीपेशा स्त्री भी आर्थिक दृष्टि से कितनी स्वतंत्र है, यह भी हम इस कहानी के जरिये देख सकते हैं। स्त्री के आर्थिक स्वातंत्र्य के विषय में कहानी के पात्र डॉक्टर साहब का मानना है कि- ''रोटी-कपड़ा-छत के बाद और इन उपर्युक्त चीजों के बाद भला उन्हें अलग से पैसा किसलिए चाहिए? वैसे भी तो औरत के हाथ में पैसा रखने से औरत बिगड़ जाती है।''[4] यहाँ लेखिका ने पढ़े-लिखे उच्च पदासीन व्यक्ति की संकुचित सोच को कहानी के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की है। कहानीकार ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि पुरुष हमेशा पुरुष ही होता है, चाहे वह पढ़ा-लिखा हो या अनपढ़। एक औरत को समझते समय उसकी संवेदनाएँ केवल देह तक ही रुक जाती हैं। वह उस स्त्री की कामनाओं व उसके मनोभावों को समझने की चेष्य ही नहीं करता है।

पितृसत्तात्मक समाज स्त्री की स्थिति व शक्ति को सदैव ही कमतर आँकता आया है। स्त्री की इसी व्यथा का अंकन अल्पना मिश्र जनसत्ता में 10 जुलाई, 2016 को प्रकाशित अपने लेख 'स्त्री विमर्श : एक अधूरी भाषा में जीना' में लिखती हैं कि- ''हिंदी के अधिकतर वर्चस्वशाली, शक्तिसूचक शब्द पुल्लिंग हैं। यहाँ तक कि आत्मा और परमात्मा के संबंध को भी भाषा ने बख्शा नहीं है। 'आत्मा' स्त्रीलिंग और 'परमात्मा' पुल्लिंग होते ही अधीन और स्वामी की स्थितियाँ बना देते हैं। 'आत्मा' स्त्रीलिंग होते ही पराधीनता का प्रतीक बन जाती है, न कि स्वतंत्ररूपा, मुक्ताचारिणी। जिस समाज ने आत्मा को नहीं बख्शा, वह भला जीती-जागती स्त्री को क्या ही बख्शाता! नतीजा ज्यादातर विशेषणों का भी यही हाल है! 'बुद्धिमान व्यक्ति' अगर लड़की है तो 'बुद्धिमान' से निकल कर बना विशेषण 'बुद्धिमती' बना दी जाएगी। मुहावरों और लोकोक्तियों का तो कहना ही क्या! क्षुद्र शब्दों को स्त्रीलिंग बना कर भी स्त्री को भाषा के भीतर उसकी औकात में रखा गया है। जैसे कि 'डिब्बा' पुलिंग है और बड़ा या छोटा हो सकता है, पर 'डिबिया' स्त्रीलिंग है और अपनी क्षुद्रता से पार नहीं पा सकती।''[5]

पुरुष की कामवृत्ति व रास्ते चलती महिलाओं के बारे में जानने की विशेषवृत्ति ने समाज में महिलाओं का जीना हराम कर दिया है। पितृसत्तात्मक समाज की इसी वृत्ति को ध्यान में रखते हुए कहानी की नायिका कहती है कि- ''क्या समझ रखा है? जिसकी बगल में बैठो, उसी की अनंत जिज्ञासाएँ जाग जाती हैं। पूछना शुरू हो जाता है- कहाँ जाएँगी, कब लौटेंगी? आपकी बीवियाँ नौकरी नहीं करतीं? कहीं आती-जाती नहीं? दूसरे लोग उनके साथ ऐसा ही व्यवहार करते होंगे, कभी सोचा आप लोगों ने....।''[6] इस प्रकार यह कहानी घर के अंदर व बाहर दोनों स्थानों पर स्त्री जीवन विशेषतया कामकाजी स्त्री के साथ किए जा रहे व्यवहार को दर्शाती है।

अपने लेख 'स्त्री को या तो सीता होना है या दुर्गा, बीच का कुछ भी सम्माननीय नहीं है- यह सोच कैसे बदलेगी?' में स्त्री जीवन के यथार्थ और उसकी छवि को केंद्र में रखते हुए वे लिखती हैं कि- ''सामान्य सहज प्राकृतिक प्राणी के रूप में स्त्रियों को कभी नहीं देखा गया। सदियों से उसके प्राकृतिक रूप को काल्पनिक रूप से ढँककर विरुपित किया गया है। स्त्री को लेकर बनाए गए मिथक उसके मनुष्यगत प्राकृतिक व्यवहार से इतर हैं। मिथक का सीधा-सा अर्थ है सौंदर्य, पवित्रता, देवत्व। पुरुष द्वारा बना दी गई स्त्री की काल्पनिक रूढ़ छवि। इस काल्पनिक रूढ़ छवि ने सिर्फ स्त्रियों को ही नुकसान नहीं पहुँचाया बल्कि समाज और स्वयं पुरुष को भी इससे बहुत अधिक नुकसान पहुँचा। इस तरह पुरुषों द्वारा बना दी गई यह काल्पनिक रुढ़ छवि स्त्रियों के साथ-साथ पुरुषों के भीतर भी कुंठा और असंतोष का कारण बनती है। क्योंकि जैसी काल्पनिक छवि गढ़ी गई है प्राकृतिक रूप से उस पर स्त्रियाँ खरी नहीं उतर सकतीं। यदि स्त्रियाँ उस रूढ़ छवि पर खरी नहीं उतर सकतीं तो उनके लिए दूसरी रुढ़ छवि दुर्गा की है। उन्हें या तो सीता होना है या दुर्गा। बीच का कुछ भी सम्माननीय नहीं है। यह दोनों ही छवियाँ अतिचरित्रों का सृजन करती हैं, जो सामान्य तो हो ही नहीं सकता। इन दोनों एक्सट्रीम चरित्रों के बीच आने वाले चरित्र या तो बेहद निम्न मान लिए जाते हैं या फिर खल, दुष्ट, कुल्य। और फिर पुरुष इस रूढ़ छवि के अप्राप्य की कुंठा की स्त्री के ही सिर मढ़ता है। परिणामस्वरुप सारा समाज इससे आक्रांत है। स्त्री और वह भी मध्यमवर्गीय स्त्री सबसे ज्यादा स्वयं को लेकर आतंकित है। क्योंकि कितने भी उपाय और प्रयत्न किए जाएँ तब भी प्रकृति प्रदत्त शरीर में आरोपित छवि से कुछ न कुछ कम तो रह ही जाता है। यह रूढ़ छवि अच्छा हथियार है।''[7]

अल्पना मिश्र की कहानी 'छावनी में बेघर' एक सैनिक व उसके परिवार की गाथा का वर्णन करती है। एक सैनिक जो देश के लिए प्राण न्योछावर करने के लिए सीमा पर हर समय डटा रहता है उसका परिवार हमारे देश में कितनी परेशानियाँ झेल रहा है, इस बात को यह कहानी भली प्रकार से अभिव्यक्ति देती है। बोर्डर पर देश के खातिर तैनात सैनिक के परिवार को कितनी आसानी से एडम ब्रांच लिख देती हैं कि- ''फील्ड में गए ऑफिसर्स की फेमिलीज सरप्लस हो गई हैं। घर उतने नहीं हैं। जो ऑफिसर फील्ड की ड्यूटी करके आ रहे हैं, उन्हें घर देना पहली प्राथमिकता है। इसलिए जब तक आपको सिविल में किराए का घर नहीं मिलता, हम आपको दो कमरे उपलब्ध करा रहे हैं। एस.एफ.ए. (सेपरेटेड फेमिली एकामोडेशन) के मिलने में बहुत समय है। वहाँ की लाइन में आपका नम्बर 174 है। एस.एफ.ए. में घर उपलब्ध होते ही हम आपको सूचित करेंगे। आप चाहें तो सीधा सिविल में शिफ्ट कर सकती हैं।''[8] यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा तंत्र कितना संवेदनहीन है जो यह तनिक भी नहीं सोचता कि फौजी की पत्नी

व बच्चे ऐसे समय में जबकि उसका पति, सीमा पर देश के लिए तत्पर है, वो कहाँ जाएँगे।

मजबूत होकर उन सैनिक परिवारों को सिविल क्षेत्र में घर-घर जाकर किराये का मकान ढूँढ़ना पड़ता है। बच्चों को स्कूल भेजकर वापस लौटने तक के समय का उपयोग वे सैनिक पत्नियाँ मकान खोजने के लिए करती हैं किंतु उस शहर में उनका कोई सिविल व्यक्ति परिचित न होने पाने के कारण मकान मिलना उनके लिए और भी कठिन हो जाता है। सैनिक पत्नियों के मनोभावों व उनकी पीड़ा को ध्यान रखते हुए कथाकार लिखती हैं कि- ''बैरंग। हम हर मकान मालिक के घर में एक चिट्ठी डालना चाहते हैं। कृपया वे अपने घरों को इस तरह बनाएं कि युद्धकाल में लड़ाई में गये फौजियों के परिवारों को एक कौना दे सकें। हम सरकार को चिट्ठी नहीं डाल सकते। पतियों की नौकरी पर बन आएगी। ... इस ऑपरेशन से लौटने पर उन्हें उज्ज्वल भविष्य मिल सकता है। औरतें पतियों के लिए अपनी दिक्कतें किनारे करती रहती हैं।''[9] वे सैनिक पत्नियाँ अपने दु:ख-दर्द को सीमा पर तैनात अपने पतियों से भी बयाँ नहीं करतीं। ''हम दो-तीन मिलकर हर दो चार रोज के बाद एस.एफ. में अपनी वेटिंग का पता लगाने जाते हैं। पता चलता है महिने भर से वेटिंग जस की तस है। साल भर लग सकता है। कोई यूनिट कहीं पीस (वृत्ति क्षेत्र) में जाएगी, घर तभी खाली होंगे। हमारे पतियों को पता है कि हमें हमारे घरों से उठाकर इन दो कमरों और किसी-किसी को एक-कमरे (पति की रैंक के मुताबिक) में पटक दिया है। लेकिन उनका फोन आने पर हमें यही कहना है- ''यहाँ सब कुशल है। यहाँ की चिंता न करना।''[10] इन कथनों से हम फौजी परिवारों का यथार्थ जान सकते हैं।

सरकार से मिलने वाले लाभ सैनिक परिवारों तक कितने सही ढ़ंग से पहुँचते हैं, उनसे भी यह कहानी हमें अवगत कराती है। नौकरशाही की जटिल प्रक्रिया उन परिवारों को कितना प्रताड़ित करती है। यह भी हम इस कहानी के माध्यम से जान सकते हैं। ''बावजूद इसके एक शहीद की बहिन नेताओं के आगे आत्मदाह करने की कोशिश कर रही है। उसके भाई के नाम से सरकार ने पेट्रोल पंप दिया है, जिसे कोई सरकारी कारिन्दा चलाता है। पैसा माँगने पर बेइज्जत करता है...।''[11] कुल मिलाकर कहानी इस बात को साफ तौर पर स्पष्ट करती है कि परिवार सेना छावनी में तो है किंतु वास्तव में उनके पास रहने के लिए ठीक-सा घर नहीं है। आजादी के इतने सालों बाद हालात बदलने ही चाहिए।

'छावनी में बेघर' संग्रह की कहानी 'तमाशा' एक विशेष विषय पर आधारित है। यह कहानी साक्षात्कार के नाम पर हो रहे तमाशे को साफ शब्दों में बताती है। इस कहानी में साक्षात्कार देने आए विद्यार्थियों की चालबाजियाँ हैं तो दूसरी ओर बाह्य परीक्षक का यथार्थ भी उद्घाटित है।

यह कहानी महिला अभ्यर्थियों की पीड़ा को भी दर्शाती है। कहानी इस यथार्थ का भी उद्घाटन करती है कि एक स्त्री को अपना केरियर बनाने के लिए कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। साथ ही इस बात का भी स्पष्ट वर्णन है कि कुछ औरतें अपने औरत होने का लाभ लेना चाहती हैं। वे अपनी व्यक्तिगत व पारिवारिक परेशानियाँ बताकर अपना इंटरव्यू पहले करवाना चाहती हैं जिससे कि उनको लंबी लाइन में न लगना पड़े। हमारा समाज किस तरह स्त्री को अलग करता है, उसे भी कहानीकार ने मीडिया की भाषा में कहानी में लिखा है-

''उनके मुँह से ज्वालामुखी फूटा, शब्द जो दरअसल अग्नि थे। काका। यह चीखते हुए बोलना, जाहिर है बाहर खड़े कंडीडेट्स के लिए था।

जो कंडीडेट्स कम औरतें ज्यादा थीं।

तमाम-तमाम विज्ञापनों के सामान की तरह अलग से चस्पा उन्नीस वनाधिकारियों समेत दो महिलाएँ सम्मानित।

तीन महिलाओं समेत बीस पुलिस कर्मचारी प्रोन्नत।

तीरंदाजी में महिलाएँ आगे.....

बरामद दस शवों में तीन महिलाएँ.....

आंदोलनकारियों में महिलाएँ भी जख्मी...।''[12]

यह सब इस बात को दर्शाता है कि जैसे महिला होना ही एक स्त्री की पहचान है।

सख्त परीक्षक साफ शब्दों में डांट देता है- ''औरत होने का नाजायाज फायदा लेती हैं ये लोग। हाँ, नहीं तो। तमाशा बना रखा है। हाँ। कहिए इन्तजार करें। यह भी तो इंटरव्यू है। किसने मजबूर किया है कि आएँ पढ़ने? क्या जरूरत है चौका-चूल्हा छोड़कर आने की? घर का सत्यानाश अलग से करती हैं ये लोग।''[13] ये सख्त परीक्षक अपने को नियम-कायदों वाला बताते हैं और जब आंतरिक महिला परीक्षक उन्हें यह कहती है कि पिछली बार ये इंटरव्यू हुए थे। उसमें 80 प्रतिशत अंक मिले थे। तो वो साफ कह देते हैं कि मैं यहाँ नम्बर लुटाने नहीं आया हूँ। 75 प्रतिशत से अधिक नहीं दूँगा। ये ही सिद्धान्तवादी प्रोफेसर दो दिन का अपने खाने का मिन्यू देते हैं। बच्चों से मिली मिठाई स्वीकारते हैं और इतना ही नहीं जब एक सुंदर खूबरसूरत महिला अभ्यर्थी जो किसी आयकर अधिकारी की पत्नी है, के देरी से आने पर भी उसका साक्षात्कार लेना स्वीकार कर लेते हैं और उसमें भी इधर-उधर की बातें कर साक्षात्कार की औपचारिकता पूरी कर लेते हैं। साक्षात्कार में एक जो महिला आंतरिक परीक्षक के कहने से वे महोदय उसे कुछ पूछते हैं उसका जवाब वो इस प्रकार देती है-

227

''सर, आप से क्या छिपाना। घर जैसा है आपके साथ। मैं तो यही मानूंगी। असल में पढ़ाई तो कुछ हो नहीं पायी। पर मैं कोशिश कर रही हूँ। मुझे तो सर, बचपन से ही हिंदी में रुचि थी, पर अंग्रेजी पढ़ाया गया। अंग्रेजी पर ही जोर रहा। विधिवत पढ़ना कभी हुआ ही नहीं। अब मैं खुद चाहती हूँ कि ढंग से हिंदी पढ़ूँ। ज्ञान अर्जित करूँ। इस तरह व्यक्ति दोनों तरफ क्वालीफाइड हो जाता है। मैडम से मैंने कहा भी था। किताबें भी मेडम से ले ली थी, लेकिन पढ़ने के लिए जितनी फुर्सत, सर, कंसंट्रेसन चाहिए, मिल नहीं पायी। पर अब इस बार की छुट्टियों में यही करूंगी। आप देखियेगा सर, जब मैं अगले महिने आपके शहर आऊँगी तो कितना पढ़ चुकी होऊँगी। आपसे तब अपनी शंकाओं का समाधान भी पूछूँगी। वैसे मैंने मैडम से भी कहा था कि मैं तमाम प्रश्न उनसे समझूँगी। अब आप मिल गये हैं, और भी सौभाग्य की बात है मेरे लिए।''[14] इस पर सिद्धांतवादी प्रोफेसर अपने सिद्धांतों से फिसल जाते हैं और बिना किसी विषय ज्ञान के भी उसे 85 प्रतिशत अंक दे देते हैं। वहीं बार-बार निवेदन करने पर भी वे होनहार विद्यार्थियों को भी उतने अंक नहीं देते। इस प्रकार सारा साक्षात्कार एक तमाशा बन कर रह जाता है। कहानी समसामयिक विषय को उठाने के साथ-साथ अपने शीर्षक का औचित्य भी सिद्ध करती है।

अल्पना मिश्र की कहानी 'बेदखल' आज के जीवन यथार्थ व पारिवारिक रिश्तों की महक लिए है। आर्थिक तंगी व अन्य परिस्थितियाँ किस प्रकार व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करती हैं। यह इस कहानी के माध्यम से भली प्रकार समझा जा सकता है। कहानीकार ने घर के परिवेश का जो चित्रण किया है उससे ही परिवार की हालत का अनुमान लगाया जा सकता है। किसी को बनाने में परिवार की हालत कितनी कमजोर हो जाती है। इस बात का अहसास-छिपाकर रखे पुराने कपड़ों को देख लेने भर से प्रतिमा दीदी को हो जाता है।

कहानी सिद्दकी जी के बहाने साम्प्रदायिकता व साम्प्रदायिक सौहार्द पर भी चिंतन करती है। ''हाँ, जीने से ज्यादा धर्म बचाना जरूरी है।'' डब्बू ने इससे भी बुरी तरह कहा था- ''साले हमें जात-पाँत में उलझाकर खुद ब्रेड-बटर खाते हैं। जात छोटे लोगों की होती है, ऊपर क्लास की कोई जात नहीं होती।''... हम सबको समझना चाहिए ही। जीने की जरूरत के आगे यह सब बेमानी है। एक मिट्टी में बोते हैं। एक दुकान से अनाज खरीदते हैं। बुनकर कपड़ा बुनता है, उसे सब पहनते हैं। मजदूर काम करता है, सब उसका लाभ लेते हैं। तब यह सब नहीं आता।''[15]

बड़े शहरों में कितनी बड़ी परेशानियाँ हैं, यह भी इस कहानी में द्रष्टव्य है। बेरोजगारी व भटकाव के साथ-साथ हिंसा व आगजनी, आतंकवाद की घटनाएँ न जाने

कब बड़े शहरों के व्यक्ति की जीवन लीला समाप्त कर दें, इस चिंता को भी यह कहानी उठाती है। जब कहानी की पात्र पिंकी के छोटे शहर में सेल्स गर्ल काम को लेकर प्रश्न उठता है तो छोटे व बड़े शहर की तुलना करते हुए- ''नहीं। बड़ा शहर तमाम चीजों को ढक लेता है। छोटा शहर उघाड़ देता है। हाँ जैसे कि लोगों के मरने को भी।''[16] कहकर कहानीकार यह दर्शाना चाहती हैं कि मरने वालों की कुछ सूची जारी होती है। बाकि लोग 'इत्यादि' में शामिल हो जाते हैं। शहर में उनके मरने की चर्चा तक नहीं होती।

अल्पना जी अपनी कविताओं के सहारे भी पाठकों की संवेदनाओं को झंकृत करती हैं। अपनी 'स्टिक' कविता में वे लिखती हैं कि-

पिता नहीं चाहते थे
लेकिन क्या करें? उन्होंने कभी जाना ही नहीं
लड़कियाँ स्टिक भी हैं
पौधों को सहारा देतीं
पौधों से बड़ी होतीं
बस, फूल तक पता था उन्हें
उसके आगे परम्परा, संस्कार, जैसी
तमाम मामूली चीजों ने ऐसा जकड़ रखा था
कि आखिरकार इस बार
उन्होंने चुना उनके लिए नीले निशानों के साथ
भयानक शान्त वह शब्द
'मृत्यु'।[17]

'जिम्मी के सपने' कहानी के माध्यम से अल्पना मिश्र ने जिम्मी व राजकुमार (कुत्ते व कुतिया) के प्रेम के बहाने स्त्री दशा व आज के समाज के पुरुष-स्त्री प्रेम संबंधों को प्रतीकात्मक रूप से उठाया है। यह कहानी आज के समाज की इस मानसिकता को भी दर्शाती है कि- ''घर में लड़कियाँ हैं, जाने दीजिए। अगरबत्ती सुलगा लीजिए। आजकल के जवान लड़कों के दिमाग का कुछ भरोसा नहीं।''[18] वहीं जिम्मी के चेहरे पर त्रिशूल का निशान देख लेने मात्र से गृहिणी की मानसिकता ही बदल जाती है। यह आज के मध्य व निम्न मध्य वर्ग की मानसिक स्थिति को उजागर करता है।

अल्पना मिश्र की कहानी 'लिस्ट से गायब' पारिवारिक संबंधों के बुनाव व उलझाव की कहानी है। जहाँ औरत की शिक्षा व डिग्रियों की कीमत शादी से पहले तक ही आँकी जाती है। उसके बाद उसकी प्रतिभा का ब्यौरा केवल झाड़ू-चौकट और बिस्तर

228

से ही मिलता है। ''डिग्रियों का महत्त्व सिर्फ शादी के पहले तक होता है। शादी के बाद से डिग्रियाँ आपके दिन-रात के काम में नुक्स निकालने के काम आती हैं। मेहमानों से बातचीत करने में तौर तरीकों से लेकर बरतन माँजने तक में ये डिग्रियाँ आपके पीछे पड़ती रहती हैं।''[19]

अफसर पति की पत्नी बनकर आई स्त्री को भी यह सोचना पड़ता है कि- ''क्या हैं वे उस घर में? उस अपने घर में? गृहलक्ष्मी, गृहस्वामिनी, महरी, दासी, एक निकृष्ट जीव? जिसके बारे में फिक्र करने की किसी को कोई जरूरत नहीं।''[20] वह स्त्री ऐसे जीवन में बदलाव चाहती है। स्वयं के पैरों पर खड़ा होना चाहती है। वह उन संघर्षों पर विजय पाना चाहती है। स्वयं कष्ट सहनकर वह एक नौकरी के लिए साक्षात्कार देने जाती है। पढ़ाने के, बदलाव के, व्यवस्था में सुधार करने के अपने अनुभव बताती है किन्तु योग्यता के बावजूद उसके सपनों की बलि चढ़ा दी जाती है। उसका नाम चयनितों की लिस्ट में नहीं होता है। इस प्रकार सब कुछ प्रयास करने के बाद भी वह लिस्ट से बाहर हो जाती है।

अल्पना मिश्र की कहानी 'इस जहाँ में हम' एक नौकरीपेशा स्त्री की कहानी है। कहानी में अल्पना मिश्र ने इस यथार्थ का उद्घाटन किया है कि नौकरीपेशा स्त्री को अपने कार्यस्थल पर किन-किन परेशानियों का सामना करना पड़ता है। साथ ही साथ घर-परिवार के जिम्मों को निभाने की चिंता उसे हरदम बनी रहती है। पति के समकक्ष ही अर्थोपार्जन करते रहने पर भी वह किस प्रकार जीवन के हर छोटे-मोटे निर्णय के लिए पति पर निर्भर रहती है। इस जहाँ के सारे दायित्व निभाते हुए भी उसे हरदम यह लगता है कि इस जहाँ में वो कहीं है ही नहीं।

कार्यालय में कार्यरत साथी पुरुष स्टॉफ को लगता है कि जब वे पूरी तनख्वाह लेती हैं तो काम भी पूरा करें। घर परिवार वालों को भी लगता है कि नौकरी के दायित्वों के साथ-साथ वे घर के दायित्व भी बखूबी निभाए। साथी पुरुष कर्मचारियों के विचारों को लेखिका ने कहानी में इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान की- ''नौकरी करेंगी साथ में, जाएँगी साथ में, पैसा लेंगी बराबर का और साथ बैठने में सती-सावित्री बनने लगेंगी। या फिर नौकरी क्यों कर रही हैं? इतने नखरे तो घर बैठे।''[21] इस प्रकार की बातें हम लोकजीवन में भी सुन सकते हैं।

नौकरी के साथ-साथ घर परिवार की गाड़ी चलाते-चलाते स्त्री किस कदर थक जाती है इस बात कर अनुमान दूसरे शहर में नौकरी कर रहे पुरुष पति को नहीं होता है। वह तो अपने पुरुष व घर के मालिक होने का अहसास उसे बार-बार करवाता रहता है। ''उनका स्पष्ट निर्देश था कि छोटे से छोटा खर्च भी डायरी में नोट किए जाए। आलू,

प्याज, टमाटर, आटा-दाल, दर्जी, रिक्शे का किराया, बच्चों की पेंसिल, रबड़ बगैरह।''[22] जब वह घबराकर एक मोबाइल फोन खरीद लेती है तो उसे कई ताने मिलते हैं। स्पष्ट है स्त्री को अपने विवेक से निर्णय करने का अधिकार हमारा समाज नहीं देता है। अपनी हर छोटी-बड़ी जरूरत के लिए भी उसे पुरुष की ओर मुखापेक्षी होना पड़ता है। पति की नजर अपनी स्त्री के मोबाइल पर लगी रहती है। भले ही उसके स्वयं के मोबाइल में हजार नंबर हों पर पत्नी से वो दो-चार कांट्रेक्ट के लिए भी हजार सवाल पूछता है। इतना ही नहीं वह अपने घर के लिए सब कुछ न्योछावर करने वाली उस स्त्री पर आरोप लगाने से भी नहीं चूकता। इसी कारण ऑफिस से बॉस का फोन आने पर भी वह बड़ी आसानी से आरोप लगाते हुए कह देता है कि- ''किसी यार का होगा।''[23] आजादी के 70 साल बाद भी इस तरह की घटनाएँ व स्थितियाँ हम अपने घरों व पास-पड़ौस से देख सकते हैं।

वास्तव में अल्पना जी की कहानियाँ कहीं भी बाहर से आरोपित नहीं हैं। वे हमारे जीवन के आस-पास घट रहे घटनाक्रम की कहानियाँ हैं। छोटे-छोटे विषयों को गंभीरता से उठाते हुए उन्होंने जीवन यथार्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। चित्रा मुद्गल का कथन बिल्कुल सही है कि- ''छावनी में बेघर अल्पना की रचनाशीलता के प्रति आश्वस्ति की बुलंद इमारत की पुख्ता उठान ही नहीं निर्मित करता है, पाठकों के मन में अपेक्षा और उम्मीद की चौतरफा खिड़कियों की भी आशा बोता है- जो अपने समय की हवा की उन्मुक्त आवाजाही की साक्ष्य भर ही नहीं बनेगी, उन्हें खुली साँसों की मोहब्बत भी प्रदान करेगी।''[24]

अल्पना मिश्र के इस संग्रह की कहानी 'मिड डे मील' हमारे समक्ष कई प्रश्न छोड़ जाती है। स्कूलों में वितरित हो रहे मीड-डे मील के यथार्थ को कहानी पूरी सच्चाई व ईमानदारी से हमारे समक्ष बयाँ करती है। नौकरशाही आपस में किस प्रकार 'मिड डे मील' से अपना अंश ग्रहण कर लेती है और इस सरकारी योजना का कितना लाभ उसके हकदार बच्चों तक पहुँच पाता है, यह हम इस कहानी से भली प्रकार जान सकते हैं। ''पका नहीं है ठीक से।' 'क्या पकेगा? जाने कौन मेर गेहूँ दिया इस बार। पकता ही नहीं। नया बोरा खोला गया है।' 'चीनी ही डाल़ते?' 'यहाँ कितना पहुँचता है ब्रजनंदन। यही चीनी-वीनी। और क्या? अपने हिस्से क्या आता है बताओ तो? ऊपर के लोग छोड़ें तब न यहाँ आएगा। अपने टेंट से खिलाएँगे क्या हम? बताओ तो।''[25] यह साफ दर्शाता है कि सरकारी योजना का जितना पैसा सरकारी खजाने से जारी होता है उतना सारा-का-सारा उसके हकदार व्यक्ति तक पहुँच नहीं पाता है।

कहानी की रचनाकार इस बात को भी उजागर करती है कि इस मिड-डे-मील की क्वालिटी इतनी घटिया होती है कि कई बार इसी के कारण बच्चे बीमार तक हो जाते हैं।

229

कहानी की एक विद्यालयी छात्रा मिड-डे-मिल में मिले भोजन के कारण फूड पॉयजनिंग की शिकार हो बीच सड़क पर चक्कर खाकर गिर जाती है। उसके माता-पिता किसी मिल में मजदूरी करते हैं और बहुत देर बाद उन्हें जब यह जानकारी मिलती है कि उनकी बेटी बीमार है तो वे उसे लेकर सरकारी अस्पताल की ओर दौड़ते हैं किंतु इनके हिस्से में वहाँ भी कुछ नहीं लिखा होता है। अस्पतालों की हालत और भी बदतर है। ''धत् तेरे की। उसने बेवजह अपना पैर पटका और झेंप मिटाने की गरज से बोला- 'अरे साहब ! मिड-डे-मिल से 40-50 बच्चे बीमार पड़ गये हैं। अस्पताल में देखिए बेडें (बेड) नहीं हैं। हम तो जमीन पर लेटा आए हैं।''[26]

बहुत पहले से हम यह सुनते आए हैं कि केंद्र से जारी हुए एक रुपये में से 10 पैसा ही वास्तविक हकदार तक पहुँचता है। आजादी के 70 वर्षों बाद भी कहानीकार को ऐसा कटुसत्य लिखने को मजबूर होना पड़ता है तो हम जान सकते हैं कि आज तक हमने कितनी तरक्की की है। ''सुनों अवधा। प्रति बच्चा एक रुपया है सरकार की तरफ से। एक रुपया में खाना मिल सकता है आज के जमाने में? तिस पर लोग ऊपर भी बैठे हैं खाने के लिए। उस एक रुपये में से दस पैसा बचता है यहाँ आते-आते। दस पैसा प्रति बच्चा। कैसा गेहूँ भेजेंगे, तुम्हीं बताओ? दस पैसा में एक बच्चा को खिलाया जाएगा? तुम्हीं बताओ? कैसा रामराज्य आ गया है।''[27]

मिड-डे-मील की वजह से बीमार बच्ची का परिवार आर्थिक दृष्टि से कितना टूट जाता है उस व्यथा को भी हम इस कहानी के माध्यम से अनुभूत कर सकते हैं। कहानी का पात्र अवधा कहता है कि- ''हमारा तो काम-धाम छूट गया मास्साब। कोई दूसरा मजूर रख लिया ठेकेदार ने। चलिए, हमारा तो छुट्टा काम था। फिर मिल जाएगा। लेकिन उनका तो छूट गया। सिर्फ तीन दिन ड्यूटी पर नहीं जा पायी थीं। इसी बीच क्या-क्या हो गया फैक्ट्री में। हड़ताल शुरू हो गयी। मजदूर और मालिक में लड़ाई हो गयी। अब जब पूछने जाती है तो कहते हैं उनको हटा दिया गया है। कैजुअल लेबर में यहीं तो रिस्क है मास्साब ! एक आदमी हटा नहीं कि दूसरा झट से जगह झपट लेता है। फैक्ट्री वालों को क्या फरक पड़ता है?[28] यह इस बात को दर्शाता है कि बीमार बेटी की देखभाल के कारण काम पर न जा पाने वाले मजदूर परिवार को अपनी मजदूरी व नौकरी से हाथ धोना पड़ता है।

इतना होते हुए भी सरकारी आँकड़े कुछ और ही दर्शाते हैं- ''मिड-डे-मील के दायरे में जल्द ही आठवीं कक्षा तक के छात्र आ जाएँगे।... सरकार की नीति के अनुसार सेकैण्ड्री कक्षा तक के विद्यार्थियों को मिड-डे-मील मिलना चाहिए। इसके लिए अतिरिक्त 2300 करोड़ रुपये की माँग की गई है- मंत्रालय के एक अधिकारी के मुताबिक मिड-

डे-मिल का नतीजा काफी उत्साहजनक रहा है।''[29] इस प्रकार सरकारी आँकड़े अपनी योजनाओं की सफलता दिखाते हैं जबकि यथार्थ उससे कुछ अलग ही होता है।

''कहा जाता है कि रचनाकार को अपनी डेस्क पर एकदम अकेला होना चाहिए, किसी भी व्यक्ति, संबंध या रिश्तों-नातों का प्रवेश वहाँ वर्जित है, पर इसे स्त्री लेखन के संदर्भ में देखें तो इस सच्चाई से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि हिंदी के स्त्री लेखन का बहुलांश, बेहद दबावों का शिकार रहा है। बहुत कम लेखिकाएं इस दबाव से लिखते समय अपने को मुक्त रखने में सफल हो पाई हैं। जहाँ से कथा में स्त्री का हस्तक्षेप शुरू होता है, वहाँ की उलझनें और अंतर्विरोध उस खास समय की उलझनें और अंतर्विरोध भी हैं, पर आज भी स्थिति कोई बहुत बदली हुई तस्वीर नहीं बनाती। इसके लिए स्त्री को अतिरिक्त सजगता और अतिरिक्त सहजता के अतिरिक्त दबाव भी उठाने पड़ते हैं।''[30] इन सबके बावजूद यह कहा जा सकता है कि विगत कुछ वर्षों में स्त्री लेखन की धार पैनी हुई है। वह कठघरों व बंदिशों से कुछ बाहर आई है। अल्पना मिश्र की कहानियों को हम इस नजर से देख सकते हैं। यहाँ रचनाकार ने कुछ परम्परागत विषयों के साथ-साथ नवीन विषयों को भी उठाया है। कहा जा सकता है कि अल्पना मिश्र की कहानियों में संवेदना की सघन व्यापकता विद्यमान है जो पाठकों को आद्योपांत बाँधे रखती है।

संदर्भ सूची-

1. https://hi.wikipedia.org/wiki
2. अल्पना मिश्र, छावनी में बेघर, (मुक्ति प्रसंग), भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2008, पृष्ठ-9
3. वही, पृष्ठ-16
4. वही, पृष्ठ 16
5. जनसत्ता 10 जुलाई, 2016 http://www.jansatta.com/news-update/jansatta-sunday-article-on-language/117984/
6. अल्पना मिश्र, छावनी में बेघर, (मुक्ति प्रसंग), पृष्ठ-18
7. https://hindi.yourstory.com/read/01b1c3263a/-quot-women-have-to-be-either-or-durga-sita-anything-in-between-is-not-honorable-quot-it
8. अल्पना मिश्र, छावनी में बेघर, (छावनी में बेघर), पृष्ठ-117
9. वही, पृष्ठ-119
10. वही, पृष्ठ-119
11. वही, पृष्ठ-122
12. अल्पना मिश्र, छावनी में बेघर, (तमाशा), पृष्ठ 50-51

13. वही, पृष्ठ-51 14. वही, पृष्ठ 60
15. अल्पना मिश्र, छावनी में बेघर, (बेदखल), पृष्ठ 75
16. वही, पृष्ठ 81
17. streekaal.com http://www.streekaal.com/2014/05/5.html
18. अल्पना मिश्र, छावनी में बेघर, (जिम्मी के सपने), पृष्ठ 83
19. अल्पना मिश्र, छावनी में बेघर, (लिस्ट से गायब), पृष्ठ 90
20. वही, पृष्ठ 92
21. अल्पना मिश्र, छावनी में बेघर, (इस जहाँ में हम), पृष्ठ 103
22. वही, पृष्ठ 104 23. वही, पृष्ठ 112
24. अल्पना मिश्र, छावनी में बेघर, बायाँ लैप
25. अल्पना मिश्र, छावनी में बेघर, (मिड डे मील), पृष्ठ 22
26. वही, पृष्ठ 33 27. वही, पृष्ठ 40
28. वही, पृष्ठ 40 29. वही, पृष्ठ 43
30. जनसत्ता 15 जुलाई, 2017 http://www.jansatta.com/editors-pick/jansatta-article-about-women-empowerment/139102/

ई-15, विश्वविद्यालय आवास, अशोक नगर, उदयपुर
संपर्क : 98283 51618, 94627 51618